

प्राचीन भारत में न्यायिक प्रक्रिया : एक अध्ययन

डॉ० प्रदीप सिंह

विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास,

पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग तिलकधारी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जौनपुर

प्राचीन भारतीय विचारकों में प्रत्येक स्तर पर इस बात पर मतैक्य दृष्टिगोचर होता है कि राजा का प्रथम और प्रमुख कार्य प्रजा की रक्षा करनी है। प्रजा की रक्षा के दो पक्ष हैं, प्रथम- प्रजा की आन्तरिक अशान्ति से रक्षा करना, जिसका अभिप्राय यह है कि राजा अपनी प्रजा को चोरो, लूटेरों और अन्य ऐसे व्यक्तियों से बचाये, जो लोगों के अधिकारों का अतिक्रमण करते हैं और राज्य की सुरक्षा को खतरे में डालते हैं। इसका दूसरा अभिप्राय यह भी है कि राजा सामाजिक यथास्थिति अर्थात् वर्णाश्रम, धर्म की रक्षा के लिये राजा की संकल्पना को जन्म दिया गया था।¹ द्वितीय पक्ष में राजा का कर्तव्य था कि वह प्रजा की बाह्य आक्रमण से रक्षा करें। राजा का प्रथम कर्तव्य अर्थात् आन्तरिक अशान्ति से प्रजा की रक्षा करने का सम्बन्ध है, न्याय प्रशासन और विधि-व्यवस्था का बहुत अधिक सम्बन्ध इसी कर्तव्य से है। राजा के इस कर्तव्य में ऐसे व्यक्तियों को दण्डित करना भी सम्मिलित है जो वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन करते हैं और ऐसे कार्य करते हैं, जिन्हें लोक और वैयक्तिक अपकारों की कोटि में रखा जाता है। अपकार की भावना में सामाजिक और विधिक सन्नियमों का उल्लंघन सन्नहित है, अतः उसी के साथ-साथ न्याय-प्रशासन की आवश्यकता भी उत्पन्न होती है। जब हमारे पास नियमों का कोई ऐसा निकाय होता है, जिसके द्वारा व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों को परिभाषित कर दिया गया होता है, तब हमारे लिये नियमों के ऐसे पृथक निकाय की भी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है, जिसके अनुसार ऐसे संस्थानों की संरचना और शक्तियों को परिभाषित किया जाता है, जो नियमों की प्रकृति उनके विस्तार और अधिकारों तथा कर्तव्यों का अभिनिर्धारण करता है। यह दूसरे प्रकार का नियमों का निकाय प्रक्रिया-विधि से सम्बन्धित होता है, जो मूल विधि से भिन्न होता है। कोई भी न्याय-व्यवस्था तब तक पूर्ण और प्रभावी नहीं हो सकती, जब तक कि इसके दोनों पक्ष अर्थात् मूल और प्रक्रिया समुचित रूप से विकसित न हो। अतः किसी भी विकसित न्याय-व्यवस्था के लिए जो कुछ आवश्यक है वह यह है कि दोनों ही प्रकार के नियमों के बीच समुचित सम्बन्ध विद्यमान रहे और इसी प्रकार के सम्बन्ध में न्याय और व्यवस्था की सुव्यवस्थित विशेषता देखी जा सकती है।² प्राचीन भारतीय विधि शास्त्र में 'मूल' और 'प्रक्रिया' विधि के बीच स्पष्ट विभाजन और सम्बन्ध विद्यमान था, जिसमें से प्रथम धर्म के रूप में ज्ञात था और दूसरा व्यवहार के नाम से ज्ञात था। व्यवहार का तात्पर्य 'विधि-वाद', किसी न्यायालय में 'विवाद' और 'विधिक प्रक्रिया' से था। अतः यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में व्यवहार विधि की वह शाखा थी, जो तब प्रवर्तन में आती थी, जब विध्यात्मक विधि अर्थात् धर्म का उल्लंघन होता था।³ पी०वी० काणे द्वारा अशोक खारवेल का

हाथी गुम्फा अभिलेख, महावग्गा और चुलवग्गा की कई शिलालेखों का उल्लेख करते हुये यह प्रदर्शित किया गया है कि “व्यवहार-समता”, ‘व्यवहार-विधि’ जैसे शब्दों का प्रयोग यह साबित करता है कि व्यवहार का तात्पर्य प्राचीन भारतीय न्यायिक प्रक्रिया से प्रक्रिया-विधि से ही था और मूल-विधि धर्म के साथ व्यवहार विधि अर्थात् ‘प्रक्रिया विधि’ भी प्रचलन में विद्यमान थी।¹ न्याय-प्रशासन का कार्य ‘न्यायालय’ जैसे एक अभिकरण के माध्यम से ही किया जा सकता है। मूल-विधि की सफलता उसके समुचित प्रशासन में ही निहित है। प्राचीन भारतीय विधि-शास्त्रियों द्वारा न्याय प्रशासन के महत्व की अनुभूति की गई थी। धर्मशास्त्रों के नियमों की सफलता सुनिश्चित करने के लिये उन लोगों ने न्यायालयों की रचना और न्यायालय कर्मियों की अनर्हताओं से सम्बन्धित पूर्ण और वृहत् नियमों का तथा साक्ष्य और प्रक्रिया के नियमों का भी निर्माण किया था। इस प्रकार, प्राचीन भारतीय विधिशास्त्रियों द्वारा प्रक्रिया-विधि पर समुचित ध्यान दिया गया था।

न्यायालय-मनुस्मृति में एक आदर्श न्यायालय को उस सभा के रूप में परिभाषित किया गया है, जिसमें वेद के तीन प्रकाण्ड विद्वान और राजा के प्रतिनिधि के रूप में विद्वान बैठते हैं और वह सभा ब्रह्म सभा अर्थात् विद्वत् सभा के नाम से ज्ञात होती है।⁵ जिस प्रकार ब्रह्मा के चार मुख हैं, उसी प्रकार ये बृहस्पति⁶ के अनुसार न्यायालय चार प्रकार के होते थे, अर्थात्

1. **प्रतिष्ठिता**-यह वह न्यायालय होता था, जो किसी निश्चित स्थान पर जैसे नगर आदि में स्थापित होता था।
2. **अप्रतिष्ठिता**-इस तरह का न्यायालय परिभ्रमण न्यायालय या, नाना-ग्रामे-अप्रतिष्ठिता न्यायालय कहा जाता था।
3. **मुद्रिता**-यह वह न्यायालय होता था जिसके पीठासीन अधिकारी को राजकीय मुद्रा (मुहर) के प्रयोग का प्राधिकार होता था।
4. **शासिता**- यह वह न्यायालय होता था, जिसका पीठासीन अधिकारी स्वयं राजा होता था।

इन न्यायालयों के अतिरिक्त धर्मशास्त्र लेखकों तथा उनके टीकाकारों और उनके संक्षेपकों द्वारा अन्य अधिकरण भी मान्य किये गये थे। नारद का अभिकथन है कि विधि के वाद (मुकदमें) ग्राम- परिषदों (कुलानि) निगमों (श्रेणी), सभाओं (याज्ञवल्क्य के अनुसार पृग और नारद के अनुसार गण) और राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीशों तथा स्वयं राजा द्वारा भी निर्णीत हो सकते हैं।⁷ इस अनुक्रम में प्रत्येक पश्चातवर्ती न्यायालय अपने से पूर्ववर्ती न्यायालय से वरिष्ठ होता था। पी0वी0 काणे का अभिमत है कि प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में आज की आधुनिक पंचायतों अथवा लोक अदालतों की भाँति पंचात् अधिकरण भी

थे¹⁰ नारद और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही अधिकरणों के सम्बन्ध में जो विवरण प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार वे न्यायालय श्रेणियों में विभक्त थे और स्वयं राजा का न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय और ग्राम्य-परिषद (कुलानि) सबसे छोटा न्यायालय था। “स्मृतिचन्द्रिका में भृगु के कथन तथा निबन्धों के संदर्भ में दस प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया गया है, जो ग्राम, जन, सभा, गण, श्रेणी, वेदज्ञ विद्वान विभिन्न वर्गों के लोग, कुलिक, कुल, न्यायाधीश तथा राजा के न्यायालय के नाम से ज्ञात थे।¹¹ इन न्यायिक निकायों की जो भी प्रकृति रही हो, इस बात पर टीकाकारों की सहमति रही है कि उन्हें अत्यन्त विश्वास के साथ न्यायिक शक्ति अर्जित की गई थी और इससे यह भी प्रकट होता है कि प्राचीन भारतीय न्यायिक व्यवस्था में न्याय-प्रशासन का कार्य केवल राजा का कार्य नहीं था, अपितु उसके प्रशासन में जनता भी राज्य के साथ उसके उत्तरदायित्व के निर्वहन में अपना योगदान करती थी। इससे यह भी प्रकट है कि जनता में संप्रभुता नाममात्र के लिये निहित नहीं थी, अपितु वह वास्तविक तौर में भी उसमें निहित थी। सामाजिक संगठनों में न्यायिक शक्ति का निहित किया जाना एक अत्यन्त विकसित समाज का एक लक्षण है।

प्राचीन भारत की न्यायिक प्रक्रिया में जूरी विचारण भी प्रचलन में विद्यमान था। कौटिल्य और वृहस्पति का कथन है कि उन लोगों के बीच का विवाद जो मायायोग विद्या और योग के विशेषज्ञ हैं, अकेले राजा द्वारा बिना किसी अन्य की सहायता के निर्णीत नहीं किया जाना चाहिए, अपितु ऐसे व्यक्तियों की सहायता और सलाह से निर्णीत किया जाना चाहिये, जो तीनों वेदों के विद्वान हैं।¹⁰ यह पाठ इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि न्याय के प्रशासन में लगे लोगों के लिये यह आवश्यक था कि वे प्रत्येक क्षेत्र में सक्षम और योग्य हो। इससे यह भी स्पष्ट है कि अभियुक्त को जूरी द्वारा अथवा ऐसे व्यक्ति द्वारा जिसे विवाद की विषयवस्तु का तकनीकी ज्ञान हो, अपने प्रकरण पर विचार किये जाने का दावा करने का अधिकार था। यह व्यवस्था तथ्य के तकनीकी और जटिल प्रश्नों के निपटारे के लिए आवश्यक थी। यह व्यवस्था इसलिए भी प्राचीनतम है, क्योंकि गौतम ऋषि द्वारा भी यह उल्लिखित है कि राजा को कृषकों, वणिकों, गोपों, ऋणदाताओं और शिल्पकारों के प्रधानों से उनके अपने समूहों के विवादों के सम्बन्ध में सहायता लेकर अन्तिम रूप से यह निर्णीत करना चाहिए कि क्या न्यायपूर्ण है।¹¹ यह व्यवस्था न्याय-प्रशासन का एक अत्यन्त उच्च मानक स्थापित करती है। इतना ही नहीं, उस समय वादकारियों को न्याय सुनिश्चित करने के लिये हर प्रकार की सावधानी भी बरती जाती थी। इस सम्बन्ध में विस्तृत और वृहत् विधिक उपबन्ध का किया जाना भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि तकनीकी और जटिल प्रश्नों का विनिर्णय संक्षिप्त रूप से नहीं किया जाता था, अपितु उन पर विशेषज्ञों की सलाह ली जाती थी। न्याय-प्रशासन के साथ जनता का जुड़ा होना एक अत्यन्त उच्च सामाजिक व्यवस्था और एक उन्नत न्यायिक प्रक्रिया परिलक्षण माना गया है।¹²

न्यायालयों की रचना-

प्राचीन भारत की न्याय-व्यवस्था में न्यायालय के लिये जो स्थान निश्चित किया गया था, वह भी महत्वपूर्ण था। प्रत्येक न्यायालय राजधानी में राजभवन के पूर्व की दिशा में स्थित होता था और उसका प्रवेश द्वार भी पूर्व दिशा की ओर होता था।¹³ न्यायालय कक्ष की सजावट के लिये भी व्यापक नियम बनाये गये थे। वृहस्पति के अनुसार न्याय-भवन को विभिन्न प्रकार के फूलों, मूर्तियों, देवमूर्तियों, चित्रों आदि से सुसज्जित होना चाहिये तथा उसमें धूप, बीज, अग्नि, जल आदि रखा होना चाहिए।¹⁴ न्यायालय के निम्नलिखित दस घटक होते थे, (1) राजा, (2) न्यायाधीश (3) निर्धारक (4) स्मृति अथवा उद्घोषक (5) संगणक (6) लेखक (7) स्वर्ण (8) अग्नि (9) जल और (10) भू-प्रबन्धक या कुर्क अमीन। राजा पूर्व दिशा की ओर मुंह करके बैठता था राजा के सामने पश्चिम दिशा की ओर मुंह करके संगणक बैठता था और राजा की वाम दिशा में लेखक बैठता था, जिसका मुंह दक्षिण दिशा की ओर होता था।¹⁵ न्यायभवन में कतिपय वस्तुओंकी विद्यमानता केवल प्रतीकात्मक महत्व की थी। धर्मशास्त्र भी न्यायालय के उपकरणों के अंग थे। स्मृतियों में जिस तरह से विभिन्न न्यायालयों का विवरण दिया गया है वह यह दर्शित करता है कि प्राचीन भारत में प्रक्रिया विधि भी उतनी ही समुन्नत अवस्था में थी, जितनी की मूलविधि थी। न्यायालयों के लिये इतनी व्यापक व्यवस्था यह भी दर्शित करती है कि प्राचीन भारतीय विधिशास्त्रियों की कितनी गहन अभिरूचि न्याय-प्रशासन के क्षेत्र में थी। पुरातन भारत की न्याय-व्यवस्था में श्रेणीबद्ध क्रम में न्यायालयों का विद्यमान होना इस बात को इंगित करता है कि उस समय की न्यायिक प्रक्रिया भी आज के समान उन्नत थी। न्याय-भवन उनकी स्थापत्य कला और साज-सज्जा से सम्बन्धित सूक्ष्म विवरण यह साबित करते हैं कि न्यायालय को एक अत्यन्त पवित्र और पुण्य स्थल माना जाता था, क्योंकि वहां न्याय को प्रशासित किया जाता था, न्यायकक्ष में राजसिंहसन की भावना यह स्मरण कराती थी कि न्याय का प्रशासन राजा के नाम पर होता है जो कि न्याय का निर्झर स्रोत है और यह स्थिति इंगलिश न्याय-व्यवस्था की किंग्स बेंच के सादृश्य स्थापित करती है। न्याय को यद्यपि राजा द्वारा प्रशासित किया जाता था। और उसे मूल तथा अन्तिम अपीलीय न्यायालय में भी रहना होता था, परन्तु फिर भी, स्मृतियों और उनके निबन्धों में इस बात पर जोर दिया गया है कि राजा को स्वयं न्याय कार्य का संपादन नहीं करना था वह इस कार्य को उन लोगों की सहायता और मार्गदर्शन से करता था, जो विधि के विद्वान होते थे। मनु का निर्देश था कि व्यवहार-वादों को देखने की इच्छा से राजा को विद्वानों और विचारशील मंत्रियों के साथ विनीत भाव से न्यायालय में प्रवेश करना चाहिये। विनीत वेश और अलंकार से युक्त होकर राजा को वहां बैठकर और आवश्यकता पड़ने पर खड़े होकर भी दाहिना हाथ परिधान से बाहर निकालकर न्याय कार्य करने वाले व्यक्तियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए।¹⁶ राजा को क्रोध और लोभ से मुक्त होकर धर्मशास्त्र में निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार निर्णय करना चाहिये। कात्यायन भी इसी बात को कहते हैं और यह भी कहते हैं कि राजा जो न्यायाधीशों, मन्त्रियों, विद्वान, बाह्यणों, पुरोहितों और सभ्यों की उपस्थिति में विवादों की जांच और

उनका विचारण करता है वह स्वर्ग को प्राप्त होता है¹⁷ कालिदास ने भी इसी भावना को मालविकाग्निमित्र¹⁸ में अभिव्यक्ति प्रदान की है जब वे यह कहते हैं कि सर्वज्ञस्यकाकिनोर्णियाभ्युपगमेदोष्या। रघुवंशम् में भी कालिदास यह कहते हैं कि राजा अतिथि सदैव धर्मस्थों (न्यायाधीशों) की मदद से स्वयं ही जनता के कार्यों और उनके विवादों को देखते थे।¹⁹ पितामह का भी यही दृष्टिकोण है कि चाहे भले ही कोई व्यक्ति धर्म के नियमों का ज्ञाता है, उसे अकेले किसी विषय पर निर्णय नहीं लेना चाहिये।²⁰

संदर्भ-सूची

- स्वे स्वे धर्मो निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ मनुस्मृति, 7:35
- देखे, ल्वायड्स इन्ट्रोडक्शन टु जूरिसप्रडेन्स, (1985)403, एच0एल0ए0 हार्ट, द कान्सेप्ट ऑफ लॉ, (1963) चैप्टर 5.
- देखें, डॉ0 एस0डी0शर्मा, ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑफ जस्टिस इन ऐन्सियण्ट इण्डिया (1988), पृ0-164.
- देखे, पी0वी0 काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम 3 (1973), पृ0-246
- यस्मिन्देष्टे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः।
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभा विदुः॥
मनुस्मृति, 8:11
- प्रतिष्ठिता पुरेग्रामे नाना ग्रामेऽप्रतिष्ठिता।
मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता॥
बृहस्पति, देखे, पी0वी0 काणे द्वारा हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम 3 (1973) पृ0-277 पर उद्धृत।
- कुलानि श्रेणयश्चैव गुणाश्चाधिकृता नृपैः।
प्रतिष्ठा व्यवहारस्य गुवेषामुत्तरोत्तरम्॥
नारद्, 1:7, याज्ञ0 2:30
- पी0वी0 काणे, तत्रैव वाल्यूम 3, (1973) पृ0-280
- देखें, गुप्ता इन्सक्रिप्शन, पृ0-29,31 ऑफ द गुप्ता ईयर 93(412-413) ए0डी0, डॉ0 एस0डी0 शर्मा द्वारा उद्धृत, देखे तत्रैव, पृ0-167
- तपस्विना तुकार्याणि त्रैविद्यैः सहकारयेत्।
भायायोगविदाचैव न स्वयं कोपकारणात्॥
कौटिल्यअर्थशास्त्रे, 1,19,32 बृहस्पति, व्यवहारमयूख में उद्धृत, पृ0-281
- देशजातिकुल धर्मश्चाम्लावैरविरुद्धः प्रमाणम् कृषि वणिक पशुपाल्यकुसीदकारवः स्वे स्वे वर्जे तेभ्यो यथाधिकारमर्न प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था न्यायाधिगमे। गौतम, 2,21,22.
- देखे, डॉ0 मुरलीधर चतुर्वेदी, प्राचीन भारतीय विधि-व्यवस्था, (1995) पृ0-262

13. देखे, शंख और बृहस्पति स्मृति चन्द्रिका, 2 पृ0- 19
14. माल्यधूपासनोपेतां बीजानल समन्विताम्।
प्रतिमालेख्यदेवैभ्य युक्तां चैवाम्बुना तथा॥
बृहस्पति, राजधर्मकाण्ड, पृ0-30,
स्मृतिचन्द्रिका, 2, पृ0-19 पर उद्धृत।
15. देखे, डॉ0 एस0डी0 शर्मा, तत्रैव, पृ0-171.
16. देखें, मनुस्मृति, 8:1-2, याज्ञ 2,1
17. कात्यायन, व्यवहारमयूख, पृ0-278 और मिताक्षरा याज्ञ0 2:2 पर उद्धृत।
18. मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अंक, डॉ0 एस0डी0 शर्मा द्वारा उद्धृत, देखें, तत्रैव,
पृ0-173
19. स धर्मस्थसखाः शश्रदर्थिप्रत्यर्थिनाम् एवयम्।
ददर्शा संशायच्छेयन्वयवहारनतनहतः॥ रघुवंशम् 17,39.
20. तस्मान्न वारूचमेकेन विधिज्ञेनापि धर्मतः।
इतिपितामहेन एकस्य धर्म कथन निषेधात्॥
सरस्वतीविलास, पृ0- 67